संस्कृति शोध संदेश

त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष - 3 अंङ्क - 8-9 फरवरी-जुलाई 2014 पृष्ठ - 96

भारतीय संस्कृति एवं दान विशेषांक

अनुक्रमणिका

क्रम.	विषय		पृष्ठ सं.
1.	सम्पादकीय	० डॉ. हेमन्त कृष्ण मिश्र	3
2.	हमारे संस्कार, हमारी संस्कृति	० गुलाबचन्द शर्मा	7
3.	भारतीय संस्कृति का प्रमुख सूत्र : भावनाओं का नियंत्रण व परिष्कार	० वी. के. नागर	10
4.	भारतीयसंस्कृतेः विशिष्टा आदर्शाः	० प्रो. बुधरमल घिंटाला	14
5.	निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते	० प्रो. मोहनलाल शर्मा	22
6.	वैदिकी भारतीयसंस्कृतिः	० जगदीश सैनी	24
7.	रामायणं भारतीयसंस्कृतिश्च	० डॉ. हेमन्त कृष्ण मिश्र	27
8.	भारतीयसंस्कृतिकोशग्रन्थो महाभारतम्	० डॉ. कुन्तल गांगुली	31
9.	भारतीय सामाजिक व सांस्कृतिक चेतना	० राकेश कुमार	35
10.	भारतीय संस्कृति में वैयक्तिक आचरण	० डॉ. अलका शर्मा	43
11.	प्राचीन तथा आधुनिक संस्कृति	० गौरव खिडिया	46
12.	धर्म तत्त्व का सांस्कृतिक महत्त्व	० डॉ. भगवती प्रसाद	55
13.	मानव मात्र का कर्त्तव्य : दान धर्म	० प्रो. डॉ. दामोदर शास्त्री	66
14.	जैन धर्म में दान का स्वरूप	० डॉ. सुनीता इंदोरिया	70
15.	भारतीय संस्कृति में दान की महिमा	० श्रीमती संगीता शास्त्री	76
16.	स्थान, युग, काल-ग्रह-नक्षत्रों के अनुसार दान	० आनन्द शास्त्री	80
17.	संस्कारों का महत्त्व	० राजेश शास्त्री	85
18.	भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ-चतुष्टय	० श्रीमती जया शास्त्री	88
19.	सूक्तियाँ	० संकलन	96

जैन धर्म में दान का स्वरूप

० डॉ. सुनीता इंदोरिया

सहायक आचार्य– जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राजस्थान)

भारतीय धर्म-दर्शन और संस्कृति में दान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। समाज में सुदृढ़ता, स्थिरता, सह-अस्तित्व एवम् परस्पर सहयोग में दान की प्रशस्त भूमिका रही है। जहाँ तक वैदिक दर्शनों का सवाल है, वे सब वेद, उपनिषद् और साथ-साथ पुराण व स्मृति आदि ग्रन्थों में जो दान की महत्ता या विधि-विधान वर्णित है, उसे स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत, जैन परम्परा वेद को प्रमाण नहीं मानती, किन्तु सर्वज्ञ तीर्थंकर की वाणी को प्रमाण मानती है। भले ही वैदिक व जैन परम्परा मूल विचारधारा में परस्पर भिन्न हो, सार्वभौम धर्म– अहिंसा, सत्य आदि के विषय में दोनों की दृष्टि समर्थन की ही रही है। प्रस्तुत आलेख में जैन धर्म में दान के स्वरूप को विवेचित किया गया है।

जैन परम्परा में दान को सत्कर्म माना गया है। जैन धर्म न केवल क्रियावादी है, न केवल ज्ञानवादी और न केवल श्रद्धावादी ही है। श्रद्धान, ज्ञान और आचरण –इन तीनों के समन्वय से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है– ऐसी जैन परम्परा की मान्यता है। इसलिये जैन धर्म में दर्शन व ज्ञान के साथ चारित्र को विशेष महत्त्व दिया गया है, क्योंकि चारित्र का सम्बन्ध धर्म से है। आचार्य सोमप्रभ सूरी के सिन्दूर प्रकरण में दान, शील, तप, भावना –ये चार प्रकरण दिये हैं। ये चारों भावनाएँ जीवन के हर क्षेत्र में उपयोगी हैं, सामाजिक जीवन में तो दान और शील का सम्बन्ध है ही, क्योंकि चारित्र एवं दान समाज से जुड़े हुये हैं।

दानशीलता का गुण ही है, जो प्राचीन युग में जैन धर्म-दर्शन के प्रचार-प्रसार का मूल हेतु सिद्ध हुई।

सामान्यतः दान का शाब्दिक अर्थ है 'देना'। जैन धर्म के मूर्धन्य विद्वान एवं सूत्र शैली के आद्य प्रणेता आचार्य उमास्वाति ने दान का लक्षण इस प्रकार कहा है–

'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।'

अर्थात् अनुग्रह के लिये अपनी वस्तु का त्याग करना दान है। यहाँ अनुग्रह के दो अर्थ होते हैं– उपकार एवं कल्याण। इन अर्थों के आधार पर दान का स्वरूप यह है–

1. उपकार की भावना से दिया जाने वाला दान अनुकम्पा दान कहलाता है। यह दान घर आए किसी याचक को दिया जा सकता है। दुःखी प्राणी के दुःख को दूर करने के लिये जो कुछ भी दिया जाता है, वह इस श्रेणी में आता है।

2. कल्याण की भावना से दिया जाने वाला दान श्रद्धादान कहलाता है। यह दान गुरुओं को, संयमी आदि को दिया जाता है। इससे दाता अपवर्ग या मोक्ष का अधिकारी होता है।

तत्त्वार्थसूत्र को आधार मानकर इसकी टीकाओं में भी इस सूत्र की व्याख्या की गई है। आचार्य पूज्यपाद ने दान को इस प्रकार कहा है– **'परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम्'**। तत्त्वार्थवृत्ति श्रुतसागरीय (7/38) में स्पष्ट किया है कि 'अनुग्रहार्थ' यानी व्यक्ति के विशिष्ट गुणसंचय रूप उपकार के लिये और दूसरों के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि वृद्धि रूप उपकार के लिये स्वधन का अतिसर्जन करना अर्थात् देना **'दान'** है।

गृहस्थ जीवन में शुद्ध (उत्कृष्ट संयमादि) धर्म को बहुत कम अवकाश होने से दान की उपादेयता अधिक है। यद्यपि साधु भी दान देता है, पर वह ज्ञान, धर्म आदि का ही दान दे सकता है, खाद्य पदार्थों आदि का नहीं, क्योंकि वह स्वयं भोजन वस्त्र पात्र आदि के विषय में गृहस्थ पर निर्भर है। जैन धर्म के साहित्य में दान के कहीं तीन व कहीं चार प्रकारों का उल्लेख मिलता है। आचार्य समन्तभद्र ने दान के 4 भेद कहे हैं– आहारदान, औषधदान, उपकरणदान, आवासदान। आचार्य पूज्यपाद ने दान के तीन प्रकार बताएँ हैं– **'त्यागो दानम्। तत् त्रिविधम्– आहारदानम्, अभयदानम्, ज्ञानदानम् चेति।'** सागारधर्मामृत में दान के विषय में सात्त्विक, राजस और तामस –इन तीन दानों का उल्लेख मिलता है।

आचार्य कार्तिकेय, जिनसेन, सोमदेव, देवसेन ने दान के चार प्रकारों में आहारदान, औषधदान, शास्त्रदान (ज्ञान) व अभयदान को विवेचित किया है। जब ये दान साधुवर्ग को दिया जाता है तो वह उत्कृष्ट फलदायक होता है और वही दान समान अनुकम्पनीय, साधर्मी या करुणापात्र गृहस्थ को दिया जाता है तो वह उच्च फलदायक नहीं होता। तात्पर्य यह नहीं है कि वह दान व्यर्थ हो जाता है। दान कभी भी निष्फल नहीं होता है। कहा भी है–

मात्रके कीर्तिपुष्टाय, स्नेहपुष्टाय बान्धवे।
सुपात्रे धर्मपुष्टाय, न दानं क्वापि निष्फलम्।।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में दान के अनेक प्रकार अनेक आचार्यों द्वारा विवेचित किये गये हैं। यहाँ सर्वमान्य दान के चार भेदों का वर्णन किया जा रहा है।

आहारदान– आहारदान को प्रायः सभी जैनाचार्यों ने स्वीकार किया है। आचार्य वसुनन्दी ने आहारदान के स्थान पर 'करुणा दान' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु उनका भाव आहारदान से ही है। आहार जीवन की प्रथम आवश्यकता है। दिगम्बर मुनि निर्वस्त्र रहते हैं परन्तु आहार के बिना उनका भी काम नहीं चलता। मुनियों, महाव्रती श्रमणों का आहार गृहस्थ पर निर्भर है। आचार्य कार्तिकेय कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्पष्ट करते हैं–

भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि होंति दिण्णाणि।
भुक्ख-तिसाए वाही दिणे-दिणे होंति देहीणं।।
भोयणबलेण साहू सत्थं सेवेदि रत्तिदिवसं पि।
भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंती।।

अर्थात् भोजनदान देने पर तीनों (औषध, शास्त्र, अभय) दान दिये होते हैं, क्योंकि प्राणियों को भूख और प्यास रूपी व्याधि प्रतिदिन होती है। भोजन के बल से ही साधु रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करता है, और भोजन दान देने पर प्राणों की भी रक्षा होती है। तात्पर्य यह है कि साधु को आहारदान देना वास्तव में उसे ज्ञान, ध्यान, त्याग, संयम, धर्म, नियम आदि में पुरुषार्थ का बल देना है। अतः गृहस्थ के आहारदान को परम धर्म माना गया है। भूख से पीड़ित व्यक्ति, न्याय, नीति, कानून, धर्म, नियम आदि सभी को ताक में रख देता है। समाज में धर्म की पालना के साथ स्वच्छ व स्वस्थ रखने के लिये 'आहारदान' सर्वप्रथम आवश्यक बतलाया गया है।

औषधदान– आहारदान के पश्चात् औषधदान का क्रम आता है। इस दान की

लौकिक व अलौकिक दोनों दृष्टियाँ हैं। यदि कोई व्यक्ति व्याधियुक्त है तो उसे आहार में रुचि नहीं होगी। उस समय उसे मात्र चिकित्सा की आवश्यकता है जो उसे व्याधिमुक्त कर सके। इस दृष्टि से औषधदान अतीव महत्त्वपूर्ण है। आचार्य वसुनन्दी ने औषधदान का लक्षण इस प्रकार स्पष्ट किया है–

उपवास-वाहि-परिसम-किलेस-परिपीडयं मुणेउण।
पत्थं सरीरजोग्गं भेषजदाणंपि दायव्वं।।

"उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से परिपीड़ित जीव को जानकर अर्थात् देखकर शरीर के योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए। किसी श्रमण या श्रमणी अथवा मुनि या आर्यिका आदि के शरीर में पूर्व के अशुभ कर्मोदय से कोई व्याधि, रोग, पीड़ा या असाता पैदा हो जाए, उस समय सद्गृहस्थ का कर्त्तव्य होता है कि वे उनका यथायोग्य उपचार करावें। पथ्य एवँ आहार के साथ रोग निवारण के उपाय अलौकिक औषधदान के अन्तर्गत आते हैं। लौकिक व अलौकिक दोनों प्रकारों में औषधदान महत्त्वपूर्ण पुण्योपार्जन का कारण है।

बहुत से आचार्य जिन्होंने दान के तीन भेद किये हैं। वे औषधदान को आहारदान में ही मान लेते हैं। उनकी दृष्टि में औषधदान एक प्रकार का आहारदान ही है, कुछ आचार्यों ने औषध को अभयदान में समावेश कर लिया है।

ज्ञानदान– मनुष्य के भौतिक शरीर की रक्षार्थ आहार व औषधी का जितना अधिक महत्त्व है, उसी प्रकार चेतना से पूर्ण शरीर की रक्षा व सम्पुष्टि और उन्नयन के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान द्वारा व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की ओर प्रेरित हो पाता है। एक व्यक्ति किसी को एक समय के लिये भोजन, वस्त्र आदि दे देता है, जो उसे कुछ समय के लिये राहत प्रदान करता है। किन्तु जब कोई महानुभाव भोजन, वस्त्र आदि प्राप्त करने का ज्ञान देता है, वह उसके लिए वास्तविक कल्याण का मार्ग खोलता है। यह ज्ञान लौकिक है, परन्तु सामान्य गृहस्थ के लिये उपकारक होता है। समस्त वस्तुओं के यथार्थ प्रकाश के लिये व अज्ञानता व मोह को मिटाने के लिये ज्ञान से बढ़कर कुछ भी नहीं है। वास्तव में आत्मा स्वयं ज्ञानमय है। आचारांग सूत्र में ज्ञान व आत्मा को एक रूप बताते हुए कहा गया है–

जे आया से विन्नाया जे विन्नाया से आया।

आत्मा पर जब अज्ञान रूपी आवरण आ जाता है तो उसका ज्ञान उतने अंशों में ढक

जाता है। उसी ज्ञान को प्रकट करने के लिये ज्ञान दान की आवश्यकता रहती है। आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिशष्टिशलाका पुरुषचरित में ज्ञान दान के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा है– 'वास्तव में ज्ञानदान प्राप्त होते ही मनुष्य को अपने हिताहित का बोध हो जाता है और वह अहित या अकर्त्तव्य से दूर हट जाता हैं।'

अन्नदान, औषधदान, अभयदान का मौका अवसर विशेष में ही प्राप्त होता है, लेकिन ज्ञानदान प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक अवसर प्रत्येक क्रिया में उपयोगी सिद्ध होता है। ज्ञानदान के अनेक उद्धरण मिलते हैं जिनके द्वारा अनेक आत्माओं ने प्रतिबोध पाया व मुक्ति को प्राप्त हुए। नृशंस बना अर्जुन मालाकार भगवान् महावीर द्वारा आत्म-ज्ञान प्राप्त होने पर मुनि दीक्षा ग्रहण कर तप, त्याग व संयम की साधना में रत हो गया। इसी प्रकार महात्मा बुद्ध ने अंगुलिमाल डाकू को ज्ञानदान देकर उसका जीवन बदल दिया। जिस ज्ञान के द्वारा सीधा आत्म-दर्शन अथवा आत्म-दृष्टि प्राप्त होती है, वह अलौकिक ज्ञान है और जिस ज्ञान के द्वारा व्यावहारिक बुद्धि का विकास व विस्तार एवं हिताहित का ज्ञान हो, वह लौकिक ज्ञान है।

अभय दान– दान का चौथा भेद अभयदान है। इस जगत में सभी जीव स्वतंत्र हैं, किन्तु फिर भी देखने में आता है कि हर युग में निर्बलों पर अत्याचार होते रहे हैं। वर्तमान युग में निरंकुश राजनैतिक दमनचक्र के कारण और दूसरी तरफ विज्ञान का बढ़ता प्रभाव जिसके कारण अणुबम विनाशकारी आयुधों का निर्माण तथा चहुँ और फैले हुये आतंकवाद का प्रभाव –ऐसी स्थिति में अभयदान की सबसे अधिक आवश्यकता है। उपर्युक्त तीनों दानों के होने पर भी प्राणों के संकट की स्थिति व्यक्ति में अपने प्राणों की रक्षा चाहेगा। महाभारत में भी कहा है–

न भूप्रदानं, न सुवर्णदानं, न गोप्रदानं, न तथान्नदानम्।
यथा वदन्तीह महत्प्रदानं सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्।।

संकट के समय अभयदान को प्राप्त किया हुआ व्यक्ति उपकारी के प्रति प्रत्युपकार के लिये सदैव तत्पर रहता है। जैनागम सूत्रकृतांग सूत्र में अभयदान को सभी दानों में श्रेष्ठ बताये हुये कहा गया है–

'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं'।

आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में अभय-दान को सब दानों में उत्तम दान बताया है– ''मरण भय से भयभीत समस्त जीवों को जो अभयदान दिया जाता है, वही सब दानों में

उत्तम है और समस्त आचरणों में वही दान मूल आचरण है।''

अभयदान का सरल अर्थ है– सभी प्रकार के भयों से मुक्त करना। जैसा कि गच्छाचार पइन्ना में उद्धृत एक गाथा में बताया है–

यः स्वभावात्सुखैषिभ्यो भूतेभ्यो दीयते सदा।
अभयं दुःखभीतेभ्योऽभयदानं तदुच्यते।।

इस लक्षण के अनुसार प्राणी को सात भयों से मुक्त करना चाहिए। जैन दर्शन में वे सात भय हैं–

1. इहलोक भय– इस लोक में अपनी ही जाति के प्राणी से डरना।
2. परलोक भय– दूसरी जाति वाले से डरना।
3. आदान भय– धन शरीर आदि की सुरक्षा को अपहरण से या चोट का खतरा जानकर डरना।
4. अकस्मात् भय– बिना किसी बाह्यकारण के अकस्मात् शंका से डरना।
5. आजीविका भय– अपनी आजीविका छूट जाने से डरना।
6. अपयश भय– अपनी अपकीर्ति के भय से डरना।
7. मरण भय– मृत्यु को या किसी के द्वारा पिटाई या मारपीट की आशंका से डरना।

इन सभी भयों से मुक्त करना ही अभय दान है। अभयदान की भी अलौकिक व लौकिक दोनों ही दृष्टियाँ हैं। जिस अभयदान के पीछे किसी भी प्रकार की कामना, नाम, यश की लालसा न हो तथा बिना किसी स्वार्थ पक्षपात या संकीर्णता के किया जाता हो, वह अलौकिक अभयदान है तथा जिसकी सीमा जाति, प्रान्त या राष्ट्र में आबद्ध हो, वह लौकिक अभयदान है।

जैन आचार्यो ने वस्तुतः देने योग्य जो वस्तु है, उस रूप में उपर्युक्त चारों को बताया है। इनके साथ-साथ दान की महत्ता व उससे होने वाले लाभ के लिये दान के अंगों के विषय में भी चिन्तन किया गया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में में प्रकाश डाला है–

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषात् तद्विशेषः।

विधि, द्रव्य, दातृ, पात्र (दान देने वाले) दान इनके इन चारों ही अंगों की शुद्धता एवं श्रेष्ठता से दान से होने वाले लाभ में भी विशेषता आ जाती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दान की प्रवृत्ति से मानवीय गुणों की वृद्धि एवम् समाज में सुख, शान्ति, सरसता व समरसता का वातावरण बनता है। ooo